॥ ओ३म् ॥

मूर्ति पूजा की तार्किक समीक्षा

•

डॉ० भवानीलाल भारतीय

•

प्रकाशक

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान,

नई दिल्ली-2

ओ३म्

मूर्ति पूजा की तार्किक समीक्षा

डॉ० भवानीलाल भारतीय

प्रकाशक :

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान, नई दिल्ली-110002

प्रकाशक :

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
3/5, महर्षि दयानन्द भवन,
रामलीला मैदान, नई दिल्ली-2

प्रथम संस्करण : 1994

मूल्य : 2.50 पैसे

मुद्रक :
बी० एस० प्रिंटर्स,
11956, उल्धनपुर,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

लेखक का परिचय

भारतीय नवजागरण में ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज की भूमिका के अधिकृत व्याख्याता डॉ० भवानीलाल भारतीय अपने विषय के तलस्पर्शी एवं प्रामाणिक विद्वान् माने जाते हैं। 1928 ई० में उनका जन्म राजस्थान के नागौर जनपद के गाँव परबतसर में एक मध्यवित्त परिवार में हुआ। उनकी उच्चशिक्षा जोधपुर में हुई! हिन्दी तथा संस्कृत में एम० ए० करने के पश्चात् उन्होंने 'संस्कृत भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन' विषय लेकर 1968 में राजस्थान विश्वविद्यालय से 'डॉक्टर ऑफ फिलासफी' की उपाधि प्राप्त की।

वे अपने युवाकाल से ही आर्यसमाज की साहित्यिक और लेखन सम्बन्धी प्रवृत्तियों में जुड़े रहे। उनका लेखनकाल चार दशकों की सुदीर्घ अवधि तक विस्तृत है और इस बीच उनके लगभग 70 ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने आर्यसमाज के ऐतिहासिक और वैचारिक पक्ष को उभारने का सतर्क प्रयास किया है, साथ ही ऋषि दयानन्द के जीवनचरित एक व्यक्तित्व-विश्लेषणपरक उनके शोधपूर्ण ग्रन्थों की सुधी समाज में सर्वत्र सराहना हुई है। आर्यसमाज विषयक पुरातात्त्विक सामग्री का उन्होंने न केवल गम्भीर अध्ययन ही किया है, अपितु अपने लेखन में उसका उपयोग भी किया है। यही कारण है कि सभी स्वदेशी एवं अन्य देशस्थ शोधकर्मी सम्बन्धित शोधकार्यों में उनसे सहायता एवं परामर्श लेते हैं।

ऋषि दयानन्द द्वारा स्थापित उनकी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी-सभा के वे गत 22 वर्षों से सदस्य तथा वर्तमान में उपप्रधान हैं। महर्षि के ग्रन्थों के सम्पादन प्रकाशन में उनका मार्गदर्शन सदा से रहा है।

अनुक्रमणिका

श्री पाण्डुरंग शास्त्री आठवले प्रतिपादित 'शास्त्रीय मूर्तिपूजा' की तार्किक समीक्षा

मूर्तिपूजा का विधान वैदिक अथवा उसके पश्चात्वर्ती आर्ष साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। यदि यह कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी कि पुरातन वैदिक उपासना पद्धति में मूर्तिपूजा का कोई प्रावधान नहीं था। वैदिक संहितायें, उनके बाद निर्मित ब्राह्मण ग्रंथ, आध्यात्म विधा के प्रतिपादक उपनिषद्, सांख्यादि षट्दर्शन यहां तक कि रामायण एवं महाभारत जैसे इतिहास ग्रंथों के मूल अंशों में भी मूर्ति पूजा के लिए कहीं कोई स्वीकृति या विधान दिखाई नहीं पड़ता। इसके स्पष्ट कारण भी थे। वैदिक ईश्वरवाद में परमात्मा की सत्ता को निराकार, निर्विकार निर्लेप तथा शरीरादि भौतिक उपादानों से सर्वथा पृथक् सच्चिदानन्दादि लक्षणों से युक्त चिन्मय तत्त्व के रूप में ही मान्यता मिली थी। इसलिए उसकी कोई प्रतिमा या प्रतिकृति, मूर्ति या प्रतीक की कल्पना नितान्त अशक्य तथा कल्पनातीत समझी गई थी।

मूर्तिपूजा की उत्पत्ति

वैदिक धर्म में जब याज्ञिक हिंसा, कर्मकाण्ड बाहुल्य जातिगत ऊंच-नीच के भाव तथा वर्णविधान को कर्मानुसार मानने की अपेक्षा जन्म के आधार पर मानने जैसी विकृतियों का प्रादुर्भाव हुआ तो उसकी प्रतिक्रिया रूप में जन्मे आर्हत (जैन) और बौद्ध मत में ईश्वर के स्थान पर कैवल्य

अवस्था को प्राप्त तीर्थंकरों तथा शाक्य मुनि गौतम बुद्ध की पूजा प्रचलित हुई। इन तीर्थंकरों तथा गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके अनुयायियों ने उनकी धातु प्रस्तरादि से निर्मित मूर्तियां बनाईं तथा विधि-पूर्वक उनकी पूजा अर्चना करने लगे। यहीं से भारत में मूर्तिपूजा की नींव पड़ी। आज से दो-अढाई हजार वर्ष पहले बनाये किसी हिन्दू मन्दिर या मूर्ति का न पाया जाना ही इस बात का प्रमाण है कि मूर्तिपूजा जैन बौद्धादि अवैदिक मतों के बाद ही प्रचलित हुई थी। वैदिक ब्राह्मणों ने इन्हीं नास्तिक मतों के अनुकरण पर दशावतार या चौबीस अवतारों की कल्पना की और षोडोशोपचार विधि से उनकी पूजा प्रारम्भ की। इसी से ब्राह्मण धर्म में मूर्तिपूजा का आरम्भ हुआ। जैन तीर्थंकरों तथा शाक्य मुनि की प्रतिमायें बैराग्य भाव प्रधान निवृत्तिमार्गी साधुओं जैसी थीं। जबकि ब्राह्मणों द्वारा कल्पित राम, कृष्ण आदि वैष्णव अवतारों की मूर्तियां राजसी वस्त्राभूषणों से सज्जित और उनकी सीता, रुक्मिणी अथवा राधा आदि पत्नियों के साथ स्थापित की गईं। कालक्रम से मूर्तिपूजा में आड-म्बरों का अधिकाधिक समावेश हुआ और वल्लभादि वैष्णव मतों के मंदिरों में भोग राग आदि का स्थूल मंडान पराकाष्ठा तक पहुंच गया। इस मंदिर विधान तथा उससे जुड़ी मूर्तिपूजा में देशवासियों का असंख्य द्रव्य खर्च होने लगा। फलतः सामान्य उपासक गणों की प्रभूत सम्पत्ति खिच-खिच कर मन्दिरों में एकत्र होने लगी। मन्दिरों के पुजारी तथा महन्त गण कोट्याधीश हो गए जबकि उपासक समुदाय निरन्तर दरिद्र होता चला गया। आज भी तिरुपति तथा नाथद्वारा जैसे मंदिरों में पाया जाने वाला प्रचुर वैभव तथा सम्पत्ति इस तथ्य के परिचायक हैं।

शास्त्रों से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती

मूर्तिपूजा को शास्त्रोक्त मान्यता देने का प्रथम प्रयास वैदिकेत्तर ग्रंथों में किया गया। तदनुसार महाभारत तथा रामायण जैसे आर्य इति-हासों में इन महाकाव्यों के नायकों तथा अन्य पुरुषों द्वारा मूर्तिपूजा किये

जाने के अनेक कल्पित विधानों को प्रविष्ट कराया गया तो दूसरी ओर अठारह पुराणों की रचना के द्वारा शिव, विष्णु, गणपति, शक्ति और सूर्य जैसे परवर्ती पौराणिक देवों की परिकल्पना को सुदृढ़ किया गया और इन्हीं देवी-देवताओं के मन्दिरों का निर्माण, उनकी मूर्तियों की स्थापना तथा प्रतिमा पूजन से होने वाले लाभों का चमत्कारपूर्ण वर्णन भी अतिशयोक्ति युक्त शैली में किया गया। तथापि इस पौराणिक साहित्य के रचयिताओं ने कहीं भी निराकार उपासना का न तो खण्डन किया और न ही मूर्तिपूजा की अनिवार्यता या अपरिहार्यता ही बताई। इसके विपरीत वे यही कहते रहे कि अल्प बुद्धि वालों को परासत्ता की ओर ले जाने के लिए प्रतिमा एक साधन मात्र है। "प्रतिमा स्वल्प बुद्धीनां (चाणक्य नीति 4।19) उधर मूर्तिपूजा के खण्डन में भी आवाजें उठने लगीं। भागवत जैसे प्रतिष्ठित वैष्णव पुराण ने मूर्तिपूजकों को जड़बुद्धि कहा तो शंकराचार्य ने पराठपूजा लिख कर मूर्तियों में देवता का आवाहन करने, उसे आसन प्रदान करने, तदनन्तर पत्र, पुष्प, दीप, गंध, वस्त्र, नीराजन तथा नैवेद्य आदि स्थूल उपकरणों के द्वारा उसकी पूजा करने का उपहास करते हुए स्पष्ट घोषणा की—

> "पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम्।
> स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च शुद्धस्याचमनं कुतः॥"

सन्तों द्वारा मूर्ति पूजा का खण्डन

शंकर के बाद के युग में उत्तर तथा दक्षिण भारत में सन्त मत की एक जबरदस्त लहर पैदा हुई। नानक, दादू, कबीर, रैदास, चरणदास, पलटू, सुन्दरदास, रज्जब आदि निर्गुणियों सन्तों ने हृदय मन्दिर के भीतर ही अन्तर्यामी के रूप में विद्यमान परमात्मा को अनुभव करने पर जोर दिया और मूर्तिपूजा को सर्वथा अस्वीकार कर दिया। इसी प्रकार तुकाराम, नामदेव आदि महाराष्ट्र निवासी सन्तों ने भी स्थूल मूर्तियों की

अपेक्षा सत् चित् आनन्द स्वरूप परमात्मा की मानसिक पूजा को ही प्रशस्त माना। इन सन्तों में कबीर जैसे फक्कड़ तथा अलमस्त व्यक्तित्व के धनी लोगों ने यदि मूर्तिपूजा की कठोर, तिक्त तथा व्यंग्यात्मक शैली में आलोचना की तो अन्य मृदुल स्वभाव वाले नानक तथा दादू आदि ने कोमल वाणी में इस विधान की अनुपयुक्तता बताई।

सुधारकों द्वारा मूर्तिपूजा का खण्डन

उन्नीसवीं शताब्दी में जब राजा राममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द जैसे धार्मिक नवजागरण के ज्योतिर्धर महापुरुषों ने मूर्तिपूजा को अवैदिक, आर्य उपासनाविधि के प्रतिकूल तथा आडम्बर, पाखण्ड, भ्रष्टाचार एवं दुराचार की पोषक तथा वर्द्धक बताया तो मूर्तिपूजा के समर्थन में भी इस युग के कतिपय धर्माचार्यों का स्वर फूट पड़ा। सर्वप्रथम रामकृष्ण परमहंस ने स्वकल्पित दृष्टान्तों, नाना रूपकों और अलंकारों द्वारा मूर्तिपूजा का समर्थन किया किन्तु उनके द्वारा मूर्तिपूजा के समर्थन में प्रस्तुत किए गये अधिकांश हेतु हेतु न होकर मात्र हेत्वाभाष ही थे। शास्त्र ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण परमहंस जी ने मूर्तिपूजा की आर्य (हिन्दू) शास्त्रों के अनुसार आलोचना करने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की। परमहंस की ही विचार सरणि का अनुवर्तन करते हुए उनके विश्वविख्यात शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने भी मूर्तिपूजा के समर्थन में अनेक मनः कल्पित युक्तियां एवं हेतु प्रस्तुत किये यद्यपि उनमें से भी अधिकांश तो शब्दाडम्बर पूर्ण-घटाटोप युक्त हेत्वाभाष ही थे। तथापि स्वामी विवेकानन्द ने मूर्तिपूजा की निस्सारता को अनुभव किया था तथा राष्ट्र को जड़ता से ग्रस्त, पराधीन, परावलम्बी एवं पूर्ण निःसत्व बनाने में इस विधान की महती भूमिका को भी समझा था। फलतः उन्होंने अपने लेखन में अनेकत्र मूर्तिपूजा का प्रचण्ड खण्डन भी किया। इस प्रकार कहीं समर्थन और अन्यत्र खण्डन कर विवेकानन्द ने खुद ही अपने मूर्तिपूजा विषयक विचारों को, बदतोबयाघात के दोष से दूषित कर दिया।

रामकृष्ण और विवेकानन्द की सरणि का ही अनुसरण करते हुए इस शताब्दी में कुछ ऐसे धार्मिक चिन्तक और प्रचारक उभरे हैं जो अपनी आकर्षक भाषा, अनेक प्रकार की आकर्षक युक्तियों, अलंकार योजना तथा विचारों के घटाटोप का निर्माण कर मूर्तिपूजा के समर्थन में तत्पर हुए हैं। शास्त्रों से अनभिज्ञ अथवा अंग्रेजी भाषा और मुहावरों के प्रयोग से आक्रान्त नवशिक्षित समुदाय को सहज में आकर्षित करने वाली बातों से मुग्ध व्यक्ति इन लोगों के विचारों का सहज ही अनुगामी बन जाता है। मूर्तिपूजा ऐसे ही समर्थन तथा प्रचारक श्री पाण्डुरंग शास्त्री आठवले नामक एक महाराष्ट्रदेशीय सज्जन हैं, जिन्होंने स्वाध्याय के नाम से अपना एक नया सम्प्रदाय खड़ा किया है। वे देश विदेश में भ्रमण कर अपने विचारों का प्रचार करते हैं तथा जिनके अनुयायियों ने उन्हें साक्षात् ईश्वर का अवतार तथा जग का सिरजनहार मान लिया है।

आठवले शास्त्री द्वारा मूर्तिपूजा का समर्थन

आठवले शास्त्री जी के विचारों का संकलन उनके अनुयायियों द्वारा किया जाकर सद्‌विचार दर्शन ट्रस्ट बम्बई के द्वारा विभिन्न पुस्तकों में प्रकाशित किया गया है। मूर्तिपूजा विषयक उनके ऐसे ही विचार इसी शीर्षक से 2042 वि० में प्रकाशित हुए हैं। हम आगे आठवले शास्त्रीजी के इन्हीं विचारों की समीक्षा करेंगे। अपनी विवेचना के आरम्भ में ही आठवले शास्त्री जी ने मूर्तिपूजा को वैदिक ऋषियों की मनुष्य को प्रदत्त एक अनुपम भेंट कहा। ऐसा लगता है कि उन्हें कभी वेदों के दर्शन करने का भी अवसर नहीं मिला अन्यथा वे वैदिक ऋषियों पर मूर्तिपूजा का लांछन नहीं लगाते। वेद के सभी अध्येता चाहे वे एतद्देशीय हैं या अन्य देशस्थ, इस बात से सहमत हैं कि वैदिक संहिताओं में मूर्तिपूजा का विधान कहीं भी नहीं है। वेदों ने तो परमात्मा को शुक्र, अकाय, अव्रण, अपापबिद्ध, स्वयंभू, जैसे विशेषणों से सम्बोधित कर स्पष्ट घोषणा की है कि महान् यश वाले उस परमपिता की कोई प्रतिमा, प्रतिकृति, अनुकृति अथवा

प्रतीक नहीं है। शास्त्रीजी ने इसी क्रम में मूर्तिपूजा को एक पूर्ण शास्त्र कहते हैं। पता नहीं वे शास्त्र किसे कहते हैं या मानते हैं। वैदिक शास्त्रों में तो हमें कहीं भी मूर्तिपूजा का विधान दृष्टिगोचर नहीं होता। वे मूर्तिपूजा को मोक्ष प्राप्त कराने वाला कहते हैं जबकि वेद शास्त्र तो ज्ञान, भक्ति, उपासना, योगसाधना आदि को मोक्ष-प्राप्ति का साधन बताते हैं। पुराणों को छोड़ कर किसी शास्त्र ने मूर्तिपूजा को मोक्ष का प्रापक नहीं कहा। यदि मूर्तिपूजा ही मोक्ष का साधन होती तो 'ऋतेज्ञानान्न मुक्ति' (सांख्य 4/19) जैसे वाक्यों का प्रचलन क्यों होता जो स्पष्ट ही ज्ञान को मुक्ति का हेतु मानते हैं। इससे भिन्न विद्ययामृतऽमश्नुते (यजु० 40/14) तथा "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (यजु० 31/18) आदि वैदिक वाक्य इस तथ्य की तारस्वर से घोषणा करते हैं कि परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को जान कर ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकेगी और अध्यात्म विद्या के द्वारा ही अमृतत्व को पाया जा सकता है।

शास्त्रीजी की मूर्तिपूजा विषयक युक्तियों का खण्डन

वस्तुतः आठवले शास्त्रीजी द्वारा मूर्तिपूजा के समर्थन में जो युक्तियां अथवा तर्क प्रस्तुत किये हैं वे सर्वथा निस्सार ही हैं। यथा वे कहते हैं कि मूर्तिपूजा की शक्ति पूजा करने वाले मनुष्य की समझदारी एवं कौशल पर निर्भर करती है। यहां विचारने की बात है कि समझदारी से या युक्तिसिद्ध मूर्तिपूजा करने की तो बात ही व्यर्थ है, अधिकांशः मूर्तिपूजक तो गतानुगति या अंधश्रद्धापूर्वक ही इस कृत्य में लिप्त रहते हैं। वे न तो यह जानते हैं कि हम जिस वस्तु की पूजा कर रहे हैं, वह जड़ है और न उन्हें यही पता रहता है कि यह स्थूल मानव-निर्मित प्रतिमा हमारी अभिलाषाओं, आकांक्षाओं तथा मनोरथों को पूरा करने में सर्वथा असमर्थ है। मूर्तिपूजा तो मात्र भेड़-चाल है। आज से चालीस-पचास वर्ष पूर्व वष्णो देवी के मन्दिर में दर्शनार्थ जाने वाले भक्तों की संख्या कुछ

हजार ही थी किन्तु अब यह लाखों तक पहुंच गई है, तो इसका कारण यह नहीं है कि ये भक्तगण कुछ समझ बूझ कर या मूर्तिपूजा की तार्किक समीक्षा कर इस कर्म में प्रवृत्त हुए हैं। यह मात्र अंधानुकरण ही है। शास्त्री जी ने यह दावा किया है कि मूर्तिपूजा जीवन के विकास में आदि से अन्त तक हमारे साथ ही रहती है। यह उक्ति भी सर्वथा मिथ्या ही है क्योंकि मूर्तिपूजा को न अपनाकर अपितु उसका प्रचण्ड विरोध करके भी नानक, दादू, सुन्दरदास, रैदास, दयानन्द, राममोहन राय, आदि सहस्रों महापुरुषों ने अपने आध्यात्मिक जीवन का विकास किया है।

सैमेटिक मतों में जड़ पूजा

शास्त्री जी के चिन्तन में विचित्र विरोधाभास के दर्शन होते हैं। वे भारतीय धर्म सुधारकों द्वारा किये गये मूर्ति पूजा विरोध से तो अप्रसन्नता अनुभव करते हैं जबकि सैमेटिक मतों में किये गये मूर्तिपूजा विरोध को सह लेते हैं। यथा, वे लिखते हैं—सैमेटिक धर्म के लोगों का मूर्तिपूजा विरोध थोड़ा तार्किक है। उनके तर्क समझने लायक हैं तथा उनका तर्क तर्कसंगत है। किन्तु शास्त्री जी को यह पता नहीं कि ईसाइयत या इस्लाम ने मूर्तिपूजा का शाब्दिक विरोध भले ही किया हो व्यवहारतः वे हिन्दुओं से भी अधिक मूर्तिपूजक हैं। कैथोलिक ईसाईयों में तो मूर्ति-पूजा उसी प्रकार प्रचलित है जिस प्रकार हिन्दुओं के विभिन्न पौराणिक समुदायों में। उनके उपासना-गृहों में मेरी तथा ईसा की प्रस्तर निर्मित प्रतिमाओं के समक्ष दीप जलायें जाते हैं। धूप जलाया जाता है। आरती की भांति घण्टानाद पूर्वक मूर्ति के समक्ष प्रणिपात करते हुए भजन गाये जाते हैं। यह कैथोलिककर्मकांड किसी भी हिन्दू मन्दिर में किये जाने वाले आडम्बरयुक्त क्रिया-जाल से भिन्न नहीं है। उसी प्रकार इस्लाम में भी मक्का के काबा स्थित संगे यसबद को चूमना, पीरों की दरगाहों में जाकर कब्रों पर चादर चढाना, धूप-बत्ती जलाना, पुष्प अर्पित करना तथा मकबरों में गड़े मुर्दों के जड़ स्मारकों के आगे सिजदा करना मूर्तिपूजा से

भी बदतर है। तथापि शास्त्रीजी में यह साहस नहीं कि वे सैमेटिक मजहबों की मूर्तिपूजा की आलोचना करें। वे तो इतना मात्र ही करते हैं कि इन सैमेटिक मतवालों को मूर्ति पूजा का शास्त्रीय रहस्य कोई नहीं बताता। मैं उनसे पूछता हूं मूर्ति-पूजा का शास्त्रीय रहस्य आखिर है क्या, और उसे हिन्दुओं के किस शास्त्र में लिखा गया है। वस्तुतः वेद, उपनिषद्, स्मृति, सूत्र आदि जिन ग्रन्थों को हम शास्त्र कहते हैं उनमें तो कहीं भी मूर्तिपूजा का उल्लेख या उसकी सामान्य चर्चा भी नहीं है, उसका रहस्य बताना तो दूर रहा। यदि पुराणों को भी हम शास्त्रों में गिन लें तो वहां भी मूर्ति पूजा को अल्प बुद्धि वालों के लिए ही विधेय कहा गया है और उसमें किसी प्रकार के रहस्य होने की बात नहीं कही गई है। पुनः यदि वादितोष न्याय से हम मूर्तिपूजा के किसी शास्त्रीय रहस्य को मान भी लें तो उसे ईसाई, मुसलमान आदि कब मानने के लिए तैयार होंगें।

मूर्तिपूजा से अन्तकरण शुद्धि नहीं

आठवले शास्त्रीजी अन्तःकरण की पवित्रता तथा चितशुद्धि के लिए मूर्तिपूजा को जरूरी मानते हैं किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि उपनिषद् एवं गीतादि आध्यात्मिक शास्त्रों में मूर्तिपूजा को कहीं भी अन्तःकरण शुद्धि तथा मनःशुद्धि का कारण नहीं बताया गया। इसके विपरीत यम नियमादि का आचरण, निरन्तर योगाभ्यास, वैराग्य तथा अन्य आध्यात्मिक वृत्तियों के सेवन को ही वर=अन्तःकरण शुद्धि का हेतु माना गया है। शास्त्रीजी का यह विवेचन वस्तुतः अंग्रेजी पढ़े लिखों, किन्तु संस्कृत शास्त्रों से सर्वथा अनभिज्ञ अभिजात्य वर्गीयलोगों को प्रभावित भले ही करले किन्तु वेदादि प्रामाणिक शास्त्रों के मनीषियों को उनकी इन युक्तियों और हेतुओं से प्रभावित नहीं किया जा सकता।

निर्गुण निराकार है किन्तु सगुण साकार नहीं

यहां एक और तथ्य ध्यातव्य है। जब आर्य समाज ने मूर्तिपूजा का शास्त्रीय आधार लेकर खंडन किया तो सनातनी पौराणिक समुदाय ने मूर्तिपूजा के समर्थन में नाना हेतुओं, युक्तियों और तर्कों का वाग्जाल-सा रच दिया और शास्त्रार्थों में इनकी सहायता से जड़पूजा को युक्तियुक्त सिद्ध करने का प्रयास किया। उन्होंने हिन्दू शास्त्रों से कुछ ऐसे उद्धरण भी ढूंढ निकाले जिनसे उनके मतानुसार मूर्तिपूजा को मान्यता दी जा सकती थी, चाहे ऐसा करने में उन्हें इन शास्त्र वचनों के अर्थ का अनर्थ ही क्यों न करना पड़ा। इसी प्रकार उन्होंने ईश्वर की सगुणता और निर्गुणता को साकार तथा निराकार का पर्याय ठहराया और सगुण-साकार तथा निर्गुण-निराकार के समीकरण बना कर साकारवाद की स्थापना की और तज्जन्य मूर्तिपूजा के विधान को मान्य ठहराया। आठवले शास्त्रीजी का विवेचन भी कुछ इसी प्रकार का है जब वे कहते हैं कि "वैदिकों ने भगवान् के दोनों स्वरूप सगुण साकार और निर्गुण निराकार स्वीकृत किये हैं।" ऐसा लिखते समय वे यह भूल जाते हैं कि उपनिषद् आदि वैदिक शास्त्रों में परमात्मा को कहीं सगुण और कहीं निर्गुण तो वर्णित किया किन्तु उसको साकार—किसी भी प्रकार के भौतिक स्थूल आकार वाला तथा मनुष्याकृति वाला नहीं कहा। इसके विपरीत यत्रतत्र अशब्दं अस्पृश्यं अदृश्यं कहकर उसके अगोचर, इन्द्रियातीत तथा रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित होने का ही प्रतिपादन किया। यदि उसे सगुण कह कर वर्णित किया गया तो यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि उसके ज्ञान, बल, क्रिया आदि स्वाभाविक हैं। वह इसके लिए किसी अन्य को मोहताज नहीं है।

द्रष्टव्य

स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च। (श्वेताश्वतरोपनिषद् 6।8)

वस्तुतः ऋषि दयानन्द ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने यह स्पष्ट किया कि सगुण होने का अर्थ साकार होना नहीं है। ईश्वर में सगुणता और

निर्गुणता तो दोनों ही सहचारी भाव से विद्यमान हैं किन्तु वह साकार कदापि नहीं है। वेदादि शास्त्रों में ईश्वर के कभी किसी भी दशा में आकार ग्रहण करने, मनुष्य अथवा किसी अन्य योनि में जन्म लेकर शरीरधारी होने का उल्लेख नहीं है। इसलिए शास्त्रीजी की यह मीमांसा उचित नहीं है कि जो सगुण है वही साकार है। हां, जिन अनेक गुणों के न होने के कारण ईश्वर को निर्गुण कहा जाता है? उनमें आकार के न होने के कारण उसे निराकार कहना तो युक्तियुक्त ही है।

आठवले शास्त्रीजी ने साकार और सगुण के एक साथ होने में जो एक विचित्र उदाहरण दिया है वह इस प्रकार है। कोई व्यक्ति जब प्रगाद निद्रा में सोया रहता है तब तो वह निर्गुण अवस्था में ही रहता है। अर्थात् उसे अमीर, गरीब, शिक्षित-मूर्ख आदि कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु जग जाने पर वह इन्हीं गुणों को धारण कर लेता है। तथैव ईश्वर भी कभी निर्गुण निराकार अवस्था में तो कभी सगुण साकार अवस्था में रह सकता है। स्पष्ट ही यह युक्ति तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। शरीरधारी मनुष्य तो शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों वाला, सीमित सामर्थ्य-युक्त प्राणी है किन्तु परमात्मा उससे सर्वथा-भिन्न शरीर आकृति रहित, चिन्मय सत्ता है। इसलिए उसके लिए सोने-जागने आदि का प्रयोग निरर्थक है। यह तुलना ही गलत है। वह हर स्थिति में एक रस, निर्लेप, सर्वव्यापक है अतः किसी स्थान विशेष में उसका जन्म धारण करना तथा शरीरधारी बनाना भी आशक्य है।

मूर्तिपूजा के समर्थन में दिये गये हेत्वाभास

वस्तुतः आठवले शास्त्रीजी का मूर्तिपूजा विषयक समग्र विवेचन ही हेत्वाभासों पर आधारित है। वे कहते हैं कि "वैदिकों की दृष्टि में भगवान् का आकार है फिर भी वे सर्वव्यापक हैं।" एक ओर भगवान् को आकार वाला बताना किन्तु साथ ही उन्हें सर्वव्यापक भी कहना एक ऐसा

विरोधाभास है जो तर्क के प्रहार को सहने में असमर्थ है। जो आकार वाली वस्तु है। वह अपने आधार के लिए सीमित स्थान को ही ग्रहण करेगी, उसमें सर्वव्यापकता कदापि असम्भव नहीं है। इसीलिए शास्त्रों में उसे सर्वव्यापक तो सर्वत्र कहा गया किन्तु उसका आकार नहीं बताया गया। शास्त्रीजी आगे कहते है "मूर्तिपूजा के द्वारा चित्त की एकाग्रता सम्भव है।" यह कथन भी त्रुटिपूर्ण है। चित्त की एकाग्रता के लिए तो उसे बाह्य विषयों से पृथक् करना पड़ता है, जबकि मूर्तिपूजा तो बाह्य विषय प्रधान ही है। मूर्तिपूजक जब बार-बार मूर्ति को पूजने के लिए कभी पाद्य और अर्घ्य के लिए जल देता है, देवता के स्नान, आचमन के लिए जल लाना, धूप, दीप नैवैद्य आदि की व्यवस्था करता है तो उसे अपने चित्त को बार-बार बाह्य विषयों में ही नियोजित करना पड़ता है। सांख्य दर्शन में 'ध्यानं निर्विषंय मनः' (6।25) कहकर मन को निर्विषय बनाने को ध्यान का लक्षण कहा गया जबकि मूर्तिपूजक का तो सारा ध्यान ही जड प्रतिमाओं की पूजा-अर्चना में लग जाता है। अतः मूर्ति-पूजा की विधि चित्त में विक्षेप तो पैदा करती है, उसे एकाग्र नहीं होने देती।

योग दर्शन में जहां चित्त की स्थिरता और एकाग्रता के लिए जिन साधनों को अपनाने के लिए कहा गया वहां भी मूर्तिपूजा को उसका हेतु नहीं बताया। शास्त्रीजी की त्रुटित चिन्तन प्रणाली के कुछ नमूने देखिये—

1. भगवान् की मनुष्य आकार की मूर्ति ही मानव के लिए सहज साधन है।
2. जिस अदृश्य शक्ति प्रभु ने इन अनन्त आकारों का निर्माण किया है वह क्या अपने लिए भी एकाध आकार को क्यों निर्माण नहीं कर सकती।

3. पत्थर से बनाई गई मूर्ति भी चैतन्य पूर्ण होने के कारण भगवान् उसमें भी हो सकते हैं। इन हेत्वाभासों के उत्तर इस प्रकार हैं—

1) भगवान् की कोई मनुष्याकार मूर्ति बनाना या बनाना संभव ही नहीं है। वेदादि शास्त्रों में जहां परमात्मा को आलंकारिक दृष्टि से हस्त पादादि युक्त बताया है वहां भी उसे सहस्र शीर्षा, सहस्राक्ष तथा सहस्रपाद कहा। उसके नेत्रों के रूप में सूर्य और चन्द्रमा, भुजाओं के रूप में दिशाओं आदि की कल्पना यह बताती है कि वह शरीरधारी नहीं है जैसा कोई दो हाथ-पांव वाला मनुष्य होता है। यदि वह स्वयं ही शरीरधारी हो जाता तो उसमें और जीवात्मा में अन्तर ही क्या रह जाता।

2) यह तो सत्य है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि परमात्मा स्वनियम तथा व्यवस्था के प्रतिकूल कोई कार्य कर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करें। परमात्मा के अपने अटल, अविचलित तथा शाश्वत नियम हैं। वह स्वयं भी उन नियमों का पालन करता है। उसे कर्तुं, अकर्तुं अन्यथा कर्तुं कह कर स्वेच्छाचारी नहीं बनाया जा सकता। पुनः संसार संचालन के लिए उसका शरीरधारी होना भी आवश्यक नहीं है। एक कुम्हार मिट्टी से अनेक प्रकार के घटादि पात्रों का निर्माण करता है, किन्तु वह स्वयं पात्र नहीं बन सकता। इसी प्रकार परमात्मा अपनी अनन्त शक्ति से संसार की रचना, स्थिति और संहार तो करता है किन्तु ऐसा करने के लिए उसे किसी आकार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(3) पत्थर से बनी मूर्ति में परमात्मा अपनी सर्व विद्यमानता के कारण उपस्थित तो है किन्तु न तो वह मूर्ति चैतन्य है और न ही उपास्य। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उपासना तभी सम्भव होती है जहां उपास्य और उपासक का सान्निध्य होता है। अध्यापक के सान्निध्य में रहकर विद्यार्थी कुछ सीख सकता है। मूर्ति में परमात्मा तो है किन्तु वहां उपासक जीवात्मा नहीं है इसलिए मूर्तिमय परमात्मा से उसकी निकटता सम्भव ही नहीं है। उठो तो हृदय देश के भीतर ही देखा और जाना जा सकता है। उपनिषद् तथा गीतादि शास्त्रों में भी अनेकत्र उसे हृदय के भीतर ही देखने और जानने के लिए कहा गया है। 'तमात्त्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः (5/13 तथा हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (गीता 18।61)' जैसे आर्ष वाक्यों की उपस्थिति में यह मानना सर्वथा गलत है कि जड़ मूर्ति के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव है।

यहां शास्त्रीजी ने एक और विचित्र बात यह कही है। वे कहते हैं कि "ऋषि ने समाधि में भगवान् का जो रूप देखा उसका स्मृति के रूप में वर्णन किया और उसके अनुसार ही शिल्पी ने मूर्ति खड़ी की।" क्या वे यह नहीं मानते कि मूर्ति तो शिल्पी के द्वारा बनाई जाती है इसलिए इसे शिल्पी की कल्पना ही कह सकते हैं। सत्य तो यह है कि समाधि अवस्था में तत्वद्रष्टा ऋषिगण परमात्मा के जिस स्वरूप को देखते हैं वह सर्वथा अनिर्वचनीय होता है। उसे वाणी द्वारा तो व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा० (मैत्रायणी उप० 4-4-1) वह अदृश्य, अस्पृश्य तथा अवर्ण्य होता है। उसका किसी स्थूल मूर्ति से कोई लेना-देना नहीं होता। जब ऋषिगण उसे अवर्णनीय कहते हैं तो भला किसी आंख, कान, मुंह वाली स्थूल प्रतिमा को उसका प्रतीक कैसे कहा

जा सकता है और यह बात भी सत्य है कि मूर्ति का आकार तो शिल्पी ही देता है और शिल्पियों की भिन्नता के कारण मूर्तियों के आकार प्रकार भी भिन्न होते हैं। भारत में राम, कृष्ण, शिव आदि के लाखों मन्दिर हैं और इनमें स्थापित इन देवताओं की प्रतिमायें भी रूप, रंग, आकार, आयुध, परिकर आदि की दृष्टि से एक दूसरे तक सर्वथा भिन्न है। शिव को ही लीजिये, कहीं शिव लिंगाकार पूजे जाते हैं तो कहीं मनुष्याकार, कहीं उन्हें पंचमुख चित्रित किया गया तो कहीं एक मुखवाला। क्या इन देवताओं के ये विभिन्न रूप रंग, आकार-प्रकार वैदिक ऋषियों ने बताये थे और क्या राम, कृष्णादि के इन भिन्न-भिन्न रूपों को ऋषियों ने समाधि अवस्था में देखा था। कदापि नहीं।

शास्त्रीजी की एक युक्ति यह है कि जब एक बार किसी मूर्तिकार ने गणेश की क्रिकेट खेलते हुए की प्रतिमा बना दी तो वह भक्तों द्वारा अस्वीकार कर दी गई, किन्तु विचार की बात तो इतनी ही है कि गणेश की पुराण कथित आकृति भी तो सर्वथा कल्पित ही है, उसके लिए कोई शास्त्रीय आधार तो है नहीं। तब इससे क्या फर्क पड़ता है कि गणेश की प्रतिमा आप कैसी बनाते हैं। मूर्तियों की भिन्नता तथा उनमें असमानता उनके निर्माता कारीगरों का ही कमाल है और इनकी मूल कल्पना के लिए वे पुराणकार जिम्मेवार हैं जिन्होंने निर्गुण निराकार परमात्मा की उपेक्षा कर स्वकल्पना के आधार पर उसकी मनुष्य रूप में अवतारणा की।

आठवले शास्त्रीजी का कहना है कि शिव, विष्णु, कृष्ण आदि की मूर्तियां ऋषियों की हैं तथा उन्होंने जिस रूप में भगवान को एकाग्रचित्त से देखा वैसा ही उनका वर्णन किया और उसी के आधार पर ही शिल्पी ने उन देवताओं की मूर्तियां बनाई हैं। यह कथन भी पूर्णतया असंगत, काल्पनिक तथा प्रमाण शून्य है क्योंकि राम, कृष्ण आदि महापुरूषों की

मूर्तियां तो रामायण, महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रंथों में वर्णित उनके रूप, आकार, वर्ण, शरीरकृति के आधार पर बनाई गई जबकि शिव, विष्णु, आदि की मूर्तियों को उनके पुराणवर्णित स्वरूप के आधार पर बनाया गया है। ऋषियों ने एकाग्र होकर अपने मानस चक्षुओं में इन्हें देखा, यह सर्वथा भ्रान्त कथन है, जिसका कोई प्रभाव शास्त्रों में उपलब्ध नहीं होता।

वेदों में मूर्तिपूजा नहीं

आर्य समाज का नाम न लेकर शास्त्रीजी लिखते हैं कि कुछ लोगों को संदेह है कि वेदों में मूर्ति-विषयक कल्पना नहीं है, किन्तु वे वेदों के ही कतिपय मंत्र मूर्ति पूजा की सिद्धि में प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः यह सारे प्रमाणशास्त्रीजी ने उन सनातनधर्मी विद्वानों के ग्रंथों से एकत्र किये हैं जिन्हें आर्य समाज एवं पौराणिक विद्वानों के बीच होने वाले मूर्तिपूजा विषयक शास्त्रार्थों में आर्य समाज के मन्तव्य के विरोध में प्रतिपक्षी पण्डितों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इन मंत्रों के वास्तविक अर्थों की मीमांसा बहुत बार की जा चुकी हैं और यह बताया जा चुका है कि इनसे मूर्तिपूजा का कथमपि समर्थन नहीं होता। उदाहरणार्थ, त्याते रुद्रशिवा तनू) सभी मंत्र यजुर्वेद के 16वें अध्याय से लिए) नमो नील-ग्रीवाय, नमः कर्पीर्दन, नमो निषंगिणें, इषुधिमते, नमः सोमाय च रुद्राय च नमो हरिकेशाय, नमो हिरण्य बाहवे आदि जो मंत्र शिव प्रतिमा-पूजन के समर्थन में उन्होंने प्रस्तुत किये उनके वास्तविक अर्थों से वे अनभिज्ञ थे। यजर्वेद का यह रुद्राध्याय रुद्र देवता को समर्पित है और भाष्यकारों के अनुसार यहां रुद्र परमात्मा, सेनापति और वैद्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन मित्रों से किसी पौराणिक रुद्र का अर्थ लेना तथा उसकी वैसी मूर्ति की पूजा को मानना मंत्रों के वास्तविक अर्थों से अपनी अनभिज्ञता सूचित करना है। यदि वादितोष न्याय से यजुर्वेद के इन मंत्रों में वर्णित रुद्र के नीलग्रीव, शितिकण्ठ, कपर्दिन, व्युप्तकेश, हरिण्यबाहु आदि

विशेषणों के पुराणगर्भित अर्थ स्वीकार भी कर लिए जाएं तो इस रूद्र की जल, पंचामृत, धूप, दीप, नेवैद्य आदि से पूजा करने का आदेश मंत्र के किस शब्द से व्यक्त होता है। यहां तो सर्वत्र ऐसे रूद्र को नमस्कार करने का आदेश है और "नमः" का निरूक्तपरक अर्थ आदर सत्कार, अन्नदाता, यहां तक कि दण्डित करने से भी है। यजुर्वेद के किसी भी प्राचीन या नवीन परिस्त्य या पाश्चात्य भाष्यकार ने रूद्र के इन मंत्रों के मूर्तिपूजा परक अर्थ नहीं किये। यदि शास्त्रीजी पौराणिक पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र, कालूराम शास्त्री, अखिलानन्द शर्मा तथा माधवाचार्य आदि के अंधानुकरण को छोड़कर किसी भी वेदज्ञ के किये इन मंत्रों के अर्थों का विचार करते तो वे वेदों से मूर्तिपूजा सिद्ध करने का दुस्साहस नहीं करते। उन्होंने ऋग्वेद (2/33/4) के मंत्र को उद्धृत किया और अर्थ करते हुए लिखा है, "हे शंकर, वैद्यों के उत्कृष्ट वैद्य के रूप में तेरे बारे में सुनता हूं।" यहां रूद्र को वैधों में श्रेष्ठ वैद्य तो कहा गया किन्तु उसकी प्रतिमा की पूजा तो नहीं कही गई।

इसी प्रकार उन्होंने इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋग्वेद 2/22/17) इस विष्णु देवता के मंत्र का जो अर्थ किया है उससे भी मूर्तिपूजा की कोई ध्वनि नहीं निकलती। मनुस्मृति में जो देवतागार (9/280) तथा प्रतिमा (9/285) शब्द आये हैं वे भी विष्णु, शिव आदि की देवमूर्तियों की पूजा के विधायक नहीं हैं। कारण कि देवतागार यज्ञशाला का वाचक है जबकि प्रतिमा वस्तु को तोलने के बाट के लिए प्रयुक्त हुआ है। यदि मनु के युग में मूर्तिपूजा का प्रचलन होता तो मूर्तियों को तोड़ने वाले उस युग में कहां से पैदा हो गये थे जिनको दण्डित करने के लिए इस श्लोक में 'प्रतिमानां च भेदक' कहा गया। वस्तुतः मूर्ति भंजक इस्लाम का उदय तो आज से 1500 वर्ष पहले हुआ जबकि मनु का काल उससे बहुत प्राचीन है। अतः मूर्तिपूजा को मनु से सिद्ध करना गलत है।

योगदर्शन में मूर्तिपूजा नहीं

इसे दुस्साहस ही कहा जायेगा कि वैदिक संहिताओं तथा मनुस्मृति से कुछ मंत्रों एवं श्लोकों को मनमाने ढंग से उद्धृत कर तथा उनके कपोल कल्पित अर्थ कर शास्त्री जी ने मूर्तिपूजा सिद्ध करने का असफल प्रयास किया। अब वे पातंजल योगदर्शन के द्वारा मूर्तिपूजा सिद्ध करने के लिए उतारू हुए। सम्पूर्ण 104 सूत्रों में उन्हें केवल एक सूत्र 'देशबंध चितस्य धारणा' (3/9) ही ऐसा मिला, जिसे उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन में प्रस्तुत किया और बिना इस बात का विचार किये कि 'धारणा' नामक योगांश की परिभाषा देने वाले इस सूत्र का मूर्तिपूजा से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, यह लिखे बैठे योगदर्शन में मूर्ति की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। उन्होंने देशबंध का अर्थ मूर्ति पूजा कैसे लिया, इस पर ही हमें आश्चर्य होता है। योगसूत्र पर व्यास का भाष्य है, भोजराज की वृत्ति है तथा वाचस्पति मिश्र की टीका भी है। इसके अतिरिक्त सैकड़ों विद्वानों ने योगसूत्रों की व्याख्यायें लिखी हैं किन्तु किसी ने उक्त सूत्र को मूर्ति-पूजा का विधायक नहीं बताया।

मनोवैज्ञानिक मूर्तिपूजा का समर्थक नहीं

आगे शास्त्रीजी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मूर्तिपूजा की आवश्यकता बताते हैं। वे कहते हैं कि भगवान का आकार (अवतार) लेना यदि हम मान्य करते हैं तो वे मनुष्य का ही आकार लेते हैं। उनका यह कथन भी अवतारवाद के पौराणिक सिद्धांत के प्रतिकूल है। जिन पुराणों में ईश्वर के शरीरधारी होकर आकार ग्रहण करने की बात की है, उन्होंने उसकी कल्पना केवल मनुष्य के आकार में ही नहीं की। हिन्दुओं के इन तथाकथित शास्त्रों में तो ईश्वर का मछली के रूप में (मीनावतार) कछुए के रूप (कूर्मावतार) पक्षी के रूप में (हंसावतार), पशु के रूप में (वराह अवतार) आधे पशु तथा आधे मनुष्य के रूप में (नृसिंह अवतार) तथा अन्ततः परिपूर्ण के रूप में (राम, कृष्ण, बुद्धादि के रूप में) अवतरित

होना बताया है । शास्त्रीजी यह क्यों भूल जाते हैं कि भारत में तो वराह तथा नृसिंह के मन्दिर भी बने हुए हैं और वहां पशु और मानव आकार वाले भगवान् की मूर्तियों की भी पूजा होती है । अतः मानवी मनोविज्ञान के आधार पर उनका मूर्तिपूजा का समर्थन व्यर्थ है । वे योगदर्शन के उस सूत्र का गलत अर्थ करते हैं जिसमें ईश्वर की परिभाषा देते हुए उसे क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय से सर्वथा पृथक् पुरुष बताया है । पुरुष विशेष का 'साकार प्रभु' अर्थ उन्होंने कैसे कर लिया । दर्शनकार का अभिप्राय तो शरीर रूपी पुरीवर्ग में रहने वाले जीवात्मा पुरुष से ब्राह्माण्ड रूपी पुरी में निवास करने वाले विशिष्ट तथा परम पुरुष परमात्मा का पार्थक्य बताना ही है, क्योंकि शरीरधारी पुरुष जहां क्लेश, कर्म, कर्म फल तथा उससे उत्पन्न संस्कारों से संलिप्त रहते हैं वहीं परम पुरुष या विशेष पुरुष परमात्मा इनसे सर्वथा पृथक ही हैं । यही पतंन्जलि को अभिप्रेत था ।

मूर्ति से चित्त की एकाग्रता नहीं

इसी प्रकरण में अनेक अप्रासंगिक बातें लिखने के पश्चात् शास्त्रीजी पुनः लिखते हैं कि जीवन विकास के लिए मन की शुद्धि आवश्यक है, उसके लिए चित्त की एकाग्रता के लिए मूर्तिपूजा की आवश्यकता है । किन्तु उनकी यह तर्कसरणी भी मनःकल्पित ही है क्योंकि मूर्तिपूजा से चित्त का विश्रृंखलित होना, इधर-उधर भटकना तो संभव है, उससे एकाग्रता तो कदापि नहीं आती । जब मूर्ति पूजने वाला कभी प्रतिमा को स्नान कराने, कभी उसे पाद्य, अर्घ्य, आचमन, नैवेद्य आदि अर्पित करने में ही लगा रहेगा तो उसके चित्त की एकाग्रता कैसे होगी । जो लोग वैष्णव मूर्तियों पर मिष्ठान का प्रसाद चढ़ाते हैं, शिव प्रतिमा पर बिल्व पत्र, आक और धतूरे जैसे विषैले वृक्षों के फल-फूल अर्पित करते हैं और भैरव तथा काली की मूर्ति के आगे पशुओं की बलि चढ़ा कर रक्त की धारा बहाते हैं अथवा उसे मदिरा-पान कराते हैं तो क्या वे यह सब चित्त

की एकाग्रता के लिए करते हैं। क्या शास्त्रीजी में इतना साहस है कि वे मूर्तिपूजा के वैष्णवाचार, शैवाचार तथा वामाचार की इन उपर्युक्त विधियों का खण्डन करें क्योंकि ये सभी विधान उन तथाकथित शास्त्रों में ही उल्लिखित हैं जिनके आधार पर वे स्वयं मूर्तिपूजा के विधान को स्वीकार करते हैं। पुराण-वर्णित मूर्तिपूजा का चित्त की एकाग्रता से कोई सम्बन्ध नहीं हैं।

शास्त्रीजी का एक अन्य तर्क यह है कि जिस प्रकार सुप्तावस्था में मनुष्य आत्मनिष्ठ होने के कारण परम सुख या आनन्द की अनुभूति करता है, वैसा ही सुख और आनन्द जागृतावस्था में उसे मूर्तिपूजा में आता है। किन्तु यह तर्क नहीं अपितु तर्काभास है। योगदर्शन में तो समाधि अवस्था में पूर्णानन्द की उपलब्धि कही गई है न कि मूर्तिपूजा करते समय। तथ्य तो यह है कि मूर्तिपूजा से तो चित्त में विभ्रम, विक्षेप तथा भटकाव की ही स्थिति पैदा होती है क्योंकि मूर्ति और उसके उपकरण सभी बाह्य और भौतिक होते हैं। अतः चेतन जीवात्मा को इनसे सुखोपलब्धि नहीं हो सकती।

इसी प्रकार की अन्य मनमानी युक्तियां प्रस्तुत करने के क्रम में वे लिखते हैं कि ध्यान के लिए मानव आकार की मूर्ति को स्वीकार किया गया। यह मूर्ति भी मानवाकार में सुन्दर, आकर्षक, आत्मीय लगने वाली होनी चाहिए। ऐसा लगता है कि शास्त्रीजी को इस मूर्तिपूजा विवेचना का हिन्दू पौराणिक ग्रन्थों तथा तत् प्रतिपादित मूर्तिपूजा विभाग से कोई लेना-देना नहीं है। यह सब तो उनका अपना वाग्जाल तथा स्वयं के द्वारा प्रसारित शब्दाड़म्बर है क्योंकि हिन्दू पौराणिक धर्म में मानवेतर मूर्तियों की पूजा भी प्रचलित है तथा, वक्रतुण्ड महाकाय लम्बोदर गणपति मुण्ड़माल धारणकर्ता शिव की दिगम्बर मूर्ति, काली और भैरव की डरावनी, त्रासदायक मूर्तियों की पूजा का भी विधान किया गया है।

अतः सुन्दर, आकर्षक और आत्मीय लगने वाली मूर्तियों की पूजा को ही हिन्दू शास्त्रानुकूल बताना मात्र दिवास्वप्न है। काली, भैरव, शीतला तथा अन्य ग्राम देवताओं की भयावनी और विकराल मूर्तियां भला किसी को कैसे आत्मीय लग सकती हैं। यदि शास्त्रीजी सुन्दर, आकर्षक और आत्मीय लगने वाली राम, कृष्ण आदि की सौम्य मूर्तियों की ही पूजा की वकालत करते हैं तो उन्हें खुल कर काली, भैरव आदि की भयोत्पादक मूर्तियों की पूजा का खण्डन करने के लिए आगे आना चाहिए। किन्तु हम जानते हैं कि ऐसा करना उनके लिए कठिन है।

बहुदेववादी हिन्दू धर्म

मूर्तिपूजा की तथाकथित दार्शनिक व्याख्या करने वाले स्वामी विवेकानन्द तथा सदृश लोगों के सामने एक बड़ी चुनौती तब आती है जब वे बहुदेववादी हिन्दू धर्म में प्रचलित सैकड़ों हजारों प्रकार के देवी-देवताओं की पृथक्-पृथक् मूर्तियों में विद्यमान नानात्व तथा पृथकत्व का निषेध कर अपनी आड़म्बरपूर्ण व्याख्यान शैली में यह कह बैठते हैं कि इन सभी नाना आकार प्रकार वाली मूर्तियों के माध्यम से भी मूर्तिपूजा एक अद्वितीय परमात्मा की ही पूजा करता है। आठवले शास्त्रीजी इसी स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं कि सभी देव एक समान हैं और कोई भी मूर्ति दूसरी मूर्ति से निम्न या भिन्न नहीं है। यदि यह बात सत्य है तब तो एक छोटे से ग्राम के शिव मन्दिर में रखे शिवलिंग और रामेश्वर, ओंकारेश्वर, पशुपतिनाथ आदि के तथा कथित ज्योतिलिंगो में कोई तात्विक भेद होना ही नहीं चाहिए। तब ये मूर्तिपूजक हिन्दू अपने ही गांव की शिव पिण्डी को छोड़कर सहस्त्रों कोस दूर इन तीर्थ स्थलों में स्थापित उक्त ज्योतिर्लिंगों के दर्शन करने क्यों जाते हैं। यदि एक शाक्त उपासक के घर में प्रतिष्ठित देवी की प्रतिमा और कलकत्ते की काली में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। तो मूर्तिपूजा में आसक्त व्यक्ति अपने गृह के देव मन्दिर में स्थापित देवी की पूजा करके ही सन्तुष्ट क्यों नहीं होता

वह उज्जैन की हर सिद्धि या कालका, हिमाचल की ज्वालामुखी और कटरे की वैष्णो देवी के दर्शनों के लिए पागल क्यों हो जाता है। वस्तुतः हिन्दुओं के बहुदेववाद को अस्वीकार करना तथा उसी के आधार पर सभी मूर्तियों में एक ही परमात्मा की सत्ता के होने की बात करना स्वामी विवेकानन्द तथा उनकी कोटि के विचारकों का कल्पना लोक में विचरण करना तथा वागाडम्बर खड़ा करना है। मूर्तिपूजा की स्थूलता, जड़ता तथा उसकी भौतिक आडम्बरपूर्ण स्थिति को नकारना सम्भव नहीं है।

आठवले शास्त्री तो इस प्रसंग में यहां तक कह बैठे कि कोई मूर्ति दूसरी से श्रेष्ठ अथवा निम्न नहीं है, यही बताने के लिए हिन्दू धर्म में पंचायतन पूजा प्रचलित हुई। सत्य तो यह है कि आठवले जी ने हिन्दू पुराणों को गम्भीरता से पढ़ा नहीं अन्यथा वे यह कभी नहीं लिखते कि पंचायतन पूजा विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति, और सूर्य आदि देवताओं अथवा उनकी मूर्तियों की एकता तथा समानता सिद्ध होती है। वस्तुतः पंचायतन पूजा का तो प्रादुर्भाव ही तब हुआ जब हिन्दू धर्म को बहुदेववाद तथा बहुमूर्तिवाद अपने नग्न रूप में प्रकट हुआ और एक परमात्मा की निराकारोपासना के सूर्य पर पौराणिक मत का ग्रहण लग गया। अब वेद प्रतिपादित एकेश्वरवाद के स्थान पर शिव, विष्णु आदि विभिन्न देवताओं की पूजा प्रचलित हुई और

इन देवताओं को सर्वोपरि शक्ति वाला सिद्ध करने के लिए पृथक्-पृथक् पुराणों की रचना की गई। प्रत्येक देवता के भिन्न स्वरूप, उसके आकार-प्रकार, स्त्री पुत्रादि परिकर, भिन्न वाहन, निवास, आयुध, अस्त्र शस्त्र आदि की कल्पना की गई और वैष्णव शैव, शाक्त, गाणपत्य तथा सौर आदि सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ। इन समुदायों का पारम्परिक बैर विरोध इतना बढ़ गया कि शैवों ने वैष्णव प्रतिमा के दर्शन एवं अर्चन में

पाप की कल्पना की तथा शैवों ने वैष्णव मत को त्याज्य ठहराया। सूर्य और गणपति आदि गौण देवताओं को भी महत्व प्राप्त हुआ और इन्हें सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए गणेश पुराण तथा सौर पुराण जैसे कल्पित ग्रन्थ रचे गये। अतः पंचायतन पूजा के आधार पर मूर्तिपूजा में किसी प्रकार की औचित्य की तलाश व्यर्थ है।

गीता में मूर्तिपूजा नहीं

गीता (अध्याय 2/12) के आधार पर शास्त्रीजी ने जो मूर्तिपूजा का महत्व सिद्ध करना चाहा है वह भी उनका दुस्साहस मात्र ही है। इस श्लोक (मय्यावश्य मनो में) में जब उन्हें मूर्तिपूजा का कोई स्पष्ट संकेत दिखाई नहीं पड़ा तो वे यह लिख कर ही स्वयं को सन्तुष्ट करने लगे कि उसमें सगुण साकार भक्ति का महत्व प्रतिपादित किया गया है। किन्तु श्लोक का अर्थ यह कहीं भी व्यंजित नहीं करता कि इसमें मूर्तिपूजा या साकारोपासना का प्रतिपादन है। श्लोक का अर्थ स्पष्ट है, "जो परमात्मा में मन लगा कर तथा नित्य युक्त होकर परा श्रद्धा से उसकी उपासना करता है वह कृष्ण की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ योगी है।"

आगे शास्त्रीजी लिखते हैं कि हमें मूर्ति को सर्वगुण सम्पन्न मानना चाहिए तभी उसका प्रभाव हमारे मन पर होगा। हमारा निवेदन है कि धातु अथवा प्रस्तर से बनी तथा किसी शिल्पी की कृति मूर्ति बेचारी सर्व गुण सम्पन्न कैसे होगी। सर्व गुण सम्पन्नता तो चैतन्य तत्व धारी मनुष्य में भी दुर्लभ है तब भला जड़, स्थूल प्रतिमा सर्वगुणसम्पन्न कैसे हो सकती है। शायद शास्त्रीजी के विचार में सुन्दर आकार प्रकार तथा आकर्षक वस्त्राभूषणादि के श्रृंगार से युक्त मूर्ति ही सर्वगुणसम्पन्न होती है, किन्तु यह तो उनका शुद्ध भ्रम ही है। कारण स्पष्ट है। मूर्ति में न तो चेतना है और आनन्द की तो उसमें कल्पना करना ही व्यर्थ है। तब भला उसमें शौर्य, पराक्रम, दया, उदारता आदि उदात्त गुणों का

अस्तित्व कैसे संभव है। मूर्ति को देखकर उसके निर्माता कारीगर की प्रतिभा तथा निर्माण कौशल जैसे गुणों का पता चाहे लग जाए उसमें अन्य मानवोचित गुण तो शशश्रृंगवत अनुपलब्ध हैं।

किसी समय लोकमान्य तिलक ने एक श्लोक के द्वारा हिन्दू धर्म में स्वीकृत कतिपय सर्वमान्य सिद्धान्तों की चर्चा की थी। उनके अनुसार वेदप्रामाण्य का स्वीकार, पुनर्जन्म में आस्था, उपास्य देवों तथा उनकी आराधना उपासना में अनेकता हिन्दू धर्म के सामान्य लक्षण हैं। तिलक प्रतिपादित हिन्दू धर्म के इन लक्षणों से इस धर्म का कोई एकात्म स्वरूप उभरकर हमारे सामने नहीं आता। यदि वेद की प्रामाणिकता तथा पुनर्जन्म की मान्यता को हिन्दू धर्म में अनिवार्यतः स्वीकार कर उसे एक स्पष्ट रूप देने का प्रयास किया गया तो उपास्य देवों की बहुलता तथा उनकी उपासना विधि के वैविध्य को स्वीकार कर उसे नितान्त अस्त-व्यस्त, एकता विहीन विश्वासों के पुंज का रूप दे दिया गया। पौराणिक हिन्दू धर्म तो वैसा ही था जैसा तिलक ने उक्त श्लोक में बताया है किन्तु सर्वाधिक प्राचीन विश्व धर्म कहलाने का अधिकारी वेदप्रतिपादित धर्म उपास्य के रूप में एक अद्वितीय, निराकार परमात्मा को ही आपराध्य मानता था। उसे प्राप्त करने के लिए भी योगदर्शन तथा अन्य वैदिक अध्यात्म शास्त्रों में स्वीकृत उपासना प्रणाली को ही मान्यता देता था। इस वैदिक उपासना प्रणाली में किसी भी प्रकार की स्थूल मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान नहीं था।

आठवले शास्त्रीजी के इस मूर्तिपूजा प्रतिपादन में पुनरुक्ति दोष तो पदे पदे लक्षित होता है। वे अनेकत्र यह लिख चुके है कि मूर्ति सर्व-गुण सम्पन्न मंगल कर्तृत्व पूर्ण, भाव प्रधान आकर्षक तथा श्रेष्ठ विकास की ओर ले जाने वाली होनी चाहिए। हमारा निवेदन है कि मूर्ति जड़ होने से न तो सर्वगुण सम्पन्न होती है और न उसमें अपने पूजने वालों

का मंगल करने की शक्ति होती है। वह उन रागात्मक भावों की अभिव्यक्ति तो यत् किंचित, सीमित मात्रा में कर सकती है जो उसके रचयिता शिल्पी ने अपनी कलात्मक प्रतिभा के द्वारा उसके मुख पर अंकित किये हैं। किन्तु भाव परिवर्तन करना उसके लिए शक्य नहीं है। वह आकर्षक भी हो सकती है तो जुगुप्सा जनक भी हो सकती है जैसी कि काली, भैरव आदि की भयानक मूर्तियों से सिद्ध है। शास्त्रीजी का भोलापन वहां पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है जब वह मूर्ति को कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सर्वथा समर्थ कहते हैं। कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं की शक्ति चैतन्य प्राणी में ही होती है, जड़ प्रतिमा में ये गुण या शक्ति नहीं होती। यदि मूर्ति कर्तुं अकर्तुं होती तो वह अपनी पूजा के लिए पुजारी पर निर्भर नहीं होती। वह अपना दैनन्दिन कार्य स्वयं ही कर लेती और स्नानादि कार्यों तथा नैवेद्य, शयन आदि के लिए पुजारी की अपेक्षा नहीं रखती।

खेद की बात तो यह है कि आठवले शास्त्रीजी ने मूर्तिपूजा की सिद्धि के लिए यत्र-तत्र गीता को उद्धृत किया जबकि गीता के 700 श्लोकों में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो मूर्तिपूजा का उल्लेख करता हो। ऐसी स्थिति में मन के निग्रह के लिए कृष्ण के द्वारा बताये गये अभ्यास और वैराग्य जैसे साधनों को मूर्तिपूजा के साथ कैसे जोडा जा सकता है। योगदर्शन में भी अभ्यास का उल्लेख हुआ तथा उसके नैरन्तर्य पर जोर दिया गया किन्तु इस अभ्यासरूपी साधना का मूर्तिपूजा से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। मन के ऊर्ध्वीकरण के लिए वे शास्त्रीय मूर्तिपूजा को एक साधन बताते हैं किन्तु यह स्पष्ट नहीं करते कि शास्त्रीय मूर्तिपूजा का क्या अर्थ है। वैदिक और आर्ष शास्त्रों में तो मूर्तिपूजा की कहीं भी चर्चा ही नहीं है।

शास्त्रीजी चित्त की स्थिरता के लिए तीन बातों में विश्वास की आवश्यकता मानते हैं—(1) भगवान हैं, (2) वे सर्वगुण सम्पन्न हैं,

(3) वे मूर्ति में हैं। पहली दो बातें तो ठीक हैं किन्तु सर्वगुण सम्पन्न परमात्मा मात्र एक स्थान में रखी मूर्ति में कैसे सीमित हो गये यह सिद्ध करना करना कठिन है, वस्तुतः परमात्मा के सर्वगुण सम्पन्न होने, सर्वशक्तिमान होने तथा सर्वव्यापक होने का औचित्य भी तभी है जब उन्हें सर्वत्र परिपूर्ण, सर्वदेशी कहा जाए। सीमित स्थान घेरने वाली मूर्ति में परमात्मा को सीमित करना चित्त की एकाग्रता का साधन नहीं हो सकता। इसी क्रम में वे आत्मविश्वास बनाये रखने के लिए भी मूर्तिपूजा को आवश्यक ठहराते हैं। यह कथन भी असिद्ध है क्योंकि आत्मविश्वास बनाये रखने के लिए ईश्वर विश्वासी होना चाहिए। मनुष्य निर्मित मूर्तिपूजा से आत्मविश्वास की स्थिति नहीं रहती है। आत्मविश्वास की जननी आस्तिकता है, जड़ पूजा नहीं।

शास्त्रीजी के अनुसार मनुष्याकार भगवान् में चित्र को एकाग्र करने के लिए मूर्तिपूजा बाह्य कारक है। उनका यह वाक्य वदतोव्याघात दोषयुक्त है। भगवान् न तो मनुष्याकार ही है और न ही किसी बाह्यकारक द्वारा उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। शास्त्रों में सर्वत्र परमात्मा को निराकार तथा किसी भी आकृति से रहित बताया गया है। परमात्मा को अंतःकरण में ही देखा और जाना जाता है। उसके लिए उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि धीर पुरुष उस परमात्मा को आत्मा के भीतर ही देखते हैं। तमात्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः। वैदिक अध्यात्म शास्त्रों में जहां-जहां परमात्मा की प्राप्ति के कारकों या साधनों की चर्चा हुई है वहाँ कहीं भी मूर्तिपूजा जैसे बाह्यकारक का उल्लेख नहीं हुआ। शास्त्रीजी ने अपने मत की पुष्टि में एक अन्य योगसूत्र "यथाभिमत ध्यानाद्वा" को भी उद्धृत किया किन्तु इस पातन्जल सूत्र से भी मूर्तिपूजा की औचित्य सिद्धि नहीं होती क्योंकि योगदर्शन के किसी भी भाष्यकार या टीकाकार ने इस सूत्र को मूर्तिपूजा का विधायक नहीं माना। सूत्र का सीधा सा अर्थ तो यही है

कि ध्यान देने वाला साधक अपने मय को केन्द्रित करने के लिए उसे शरीर के किसी भी स्थान में निवेश कर सकता है।

शास्त्रीजी आध्यात्मिक विषयों को भी भौतिक मानदण्डों से नापते हैं। तभी तो वे लिखते हैं कि जिस प्रकार दृश्य-श्रव्य साधनो से किसी विषय की शिक्षा देना अधिक सुगम हो जाता है उसी प्रकार भगवान् की सुन्दर, आकर्षक और नयनमनोहारी मूर्ति के द्वारा मनुष्य का मन केन्द्रित हो जाता है। उनकी इस तुलना के बारे में क्या कहा जाए ? सांसारिक विषयों को दृश्य श्रव्य (Audio Viaual aids) साधनों से भले ही स्पष्ट किया जा सकता हो किन्तु जो अदृश्य-अश्रव्य, अस्पृश्य, मन वाणी से अगोचर तथा इन्द्रियातीत हो; उसकी सुन्दर, आकर्षक और नयनमनोहारी मूर्ति बनाना क्या शक्य भी हैं ? अतः ऐसे सस्ते फार्मूलों से मूर्तिपूजा की सिद्धि करना सर्वथा अनुचित है। शास्त्रीजी तो परमातमा का शृंगार करना चाहते हैं। कभी उसे पीताम्बरधारी बनाते हैं और कभी कौपीनधारी, किन्तु सर्वदिशायें ही जिसका वस्त्र है, वह व्यापक प्रभु न तो पीताम्बरधारी है और न ही कौपीनधारी। अखिल सृष्टि का शृंगार करने वाले परम सुन्दर काम आप क्या खाक शृंगार करेंगे।

आठवले शास्त्रीजी की कुछ अन्य युक्तियों की परीक्षा करें। वे लिखते हैं—"मन ही मूर्ति का आकार लेता है···मन ही मूर्ति खड़ी करता है।" यह वाक्य अर्थहीन है। मूर्ति को कारीगर बनाता है, उसका मन से कोई सम्बन्ध नहीं है। पुनः उनका कथन है, "मन और बुद्धि को प्रभावी करने के लिए मूर्तिपूजा आवश्यक है। मूर्तिपूजा कोई बचपना नहीं है। वह भगवान् की खुशामद नहीं है आदि" मूर्तिपूजा से मन और बुद्धि का कोई विकास नहीं होता। जिन लोगों ने मूर्तिपूजा की, उनका सारा जन्म इस बाह्याडम्बर पूर्ण व्यर्थ का आचरण करने में ही समाप्त हो गया। मन और बुद्धि को विकसित करने तथा अधिक प्रभावी बनाने के लिए सत्संग,

स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, अभ्यास आदि के साधन शास्त्रों ने बताये हैं, मूर्तिपूजा के लिए यहां कोई स्थान नहीं हैं। शास्त्रीजी कहते हैं कि मूर्ति-पूजा कोई बचपना नहीं है, किन्तु तनिक गम्भीरता से विचार करें तो मूर्तिपूजा से बढ़कर खिलवाड़ कहीं भी दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार छोटी बालिकायें गुड़ियों का ब्याह रचा कर अपने मन को खुश करती हैं, उसी प्रकार यह मूर्तिपूजक भी अपनी खयाली दुनिया में रहकर परमात्मा को मूर्ति के बहाने कभी स्नान कराता है तो कभी उसे वस्त्र पहनाता है, कभी भोजन कराता है तो कभी शयन कराता है। जो सांसारिक इति-कर्तव्य संसारी प्राणियों के साथ जुड़े हैं उनको निर्लेप, निरंजन परमातमा से जोड़ना क्या बालपना नहीं है। मूर्तिपूजा भगवान् की निकृष्टतम खुशामद ही नहीं उसकी सर्वसक्तिमानता का उपहास भी है क्योंकि हम जगदाधार को आसन देने की हिमाकत करते हैं, विश्वम्भर को भोजन कराते हैं और सर्व प्रकाशक का दीपदान करते हैं।

स्थूल उपकरण ईश्वर प्राप्ति के साधक नहीं

मूर्तिपूजा के उपकरण धूप, दीप, अगरबत्ती, चंदन आदि को एकत्र करने को शास्त्रीजी मन के स्थिर करने के साधन या तैयारी बताते हैं। किन्तु उपनिषदादि वैदिक अध्यात्म ग्रंथों में इन भौतिक उपकरणों को मन के स्थिरीकरण का उपाय कहीं नहीं बनाया गया। वहां तो यम नियमादि के पालन, अभ्यास. वैराग्य पद सम्पत्ति आदि को ही मन की एकाग्रता का उपाय बताया गया है। ध्यान, योगदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है जो एक विशिष्ट साधन क्रिया का वाचक है। उसकी विधि तथा स्वरूप योगसूत्रों में विस्तार से वर्णित है, किन्तु आठवले शास्त्रीजी किसी वृक्ष के तले खड़े मुरलीधर कृष्ण के चिन्तन को ही जब शास्त्रीय ध्यान कहते हैं तो हमें उनके इस अज्ञान पर हंसी आती है। वे भक्ति और उपासना को भिन्न अर्थ में प्रयुक्त करते हैं जब कि वस्तुतः ये दोनों शब्द एक ही भाव के द्योतक हैं। ईश्वर के प्रति पराअनुरक्ति को भक्ति कहा गया है

जब कि ईश्वर की सर्वव्यापकता को अनुभव कर उसका आत्मिक दृष्टि से सामीप्य लाभ करना उपासना है। वैदिक साहित्य में उपासना का ही प्रयोग होता रहा जब कि परवर्ती ग्रंथों में भक्ति का भूरिश: प्रयोग हुआ है। निष्कर्षत: आठवले जी द्वारा प्रयुक्त शास्त्रीय मूर्तिपूजा अपने आप में अर्थहीन है क्योंकि वैदिक शास्त्रों से मूर्तिपूजा की सिद्धि सम्भव ही नहीं है।

—:०:—